

# लोकतंत्र का चेहरा, चरित्र और सिविल सोसाइटी



प्रफुल्ल कोलख्यान

## भ्रष्टाचार

के विरुद्ध अन्ना हजारे की कार्रवाइयों ने आम लोगों के बीच आशा की नई किरण जगाई है। आर्थिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध हाल के दिनों में ऐसा व्यापक उद्वेलन देखने में नहीं आया है। रामदेव ने भी अपने तरीके से कालाधन को देश में लाने और देश में छिपे काला धन को जनहित में बाहर लाने का कार्यक्रम चला रखा है। कुछ लोग इसके पीछे फासीवाद की आहट सुनने लगे हैं तो कुछ लोगों को इनमें गाँधी और जयप्रकाश के दर्शन भी होने लगे हैं। गाँधी और जयप्रकाश के समय ही जब भ्रष्टाचार खत्म नहीं हुआ तो उन जैसे लगनेवाले से इसके खात्मे की अतिरिक्त उम्मीद का क्या मतलब! यह संतोष की बात है कि हैबरमास ने जिसे 'पब्लिक स्फीयर' कहा है या जिसे हम हिंदी में जनवास कह सकते हैं, उसके अंतःकरण का आयतन भारत में सिविल सोसाइटी की हालिया गतिविधियों से जरूर बढ़ा है। यह संतोष तब चिंता में बदल जाता है जब हम अपने अर्थात् भारत के संदर्भ में देखते हैं कि 'पब्लिक स्फीयर' में 'पब्लिक' बहुत कम है और 'स्फीयर' बहुत बड़ा है। चिंता का कारण यह भी है कि इस 'पब्लिक स्फीयर' में शामिल 'पब्लिक' का रुतबा भारत के आमजन की तुलना में बहुत ज्यादा है और इन्हें अपेक्षाकृत अपने से बहुत कम रौब-रुतबावाले भारत के आमजन के समर्थन की भी कोई खास जरूरत नहीं है। कहा जाता है कि सिविल सोसाइटी के लिए स्वतंत्र-प्रेस बहुत जरूरी है। कम-से-कम भारत में सारे बड़े प्रेस बड़े औद्योगिक-व्यापारिक घरानों द्वारा संचालित हैं। इन घरानों के अपने हित-अहित हैं। आमजन की पहुँच में इंटरनेट और सोशल नेटवर्किंग के साधन भी नहीं हैं। जो लक्षण सामने आ रहे हैं उससे यह अंदाजा लगाना बहुत मुश्किल नहीं है कि बहुत जल्दी सिविल सोसाइटी सिर्फ दबाव समूहों के रूप में ही नहीं बल्कि समानांतर

सत्ता-समूहों में बदल जायेगी और लोक के प्रति जवाबदेह और लोकानुमोदित लोकतांत्रिक सत्ता पर अमरवेलि की तरह छा जायेगी। सभी देश, काल और समाज में मिडियाँकरों का स्तर एक ही नहीं होता है, इसे ध्यान में रखकर स्वीकार करना चाहिए कि असल में व्यावहारिक लोकतंत्र मिडियाँकरों का तंत्र है। सिविल सोसाइटी की बढ़ती शक्ति तथा गतिविधि के साथ लोकतंत्र के अंतःपुर में पहले से प्रभावी नवब्राह्मण-तंत्र (मेरिटोक्रेसी) और अधिक बलीयान हो जायेगा। इसलिए ठहर कर शांत चित्त से सोचने की जरूरत है कि अंततः सिविल सोसाइटी हमारे लोकतंत्र को मजबूत करनेवाली है या कमजोर करनेवाली। लोकतंत्र की आकांक्षा के अनुरूप लोकतांत्रिक संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य को सही करने में इन कार्रवाइयों से मदद मिलेगी या जारी लोकतंत्र को भी इन कार्रवाइयों से खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इस संदर्भ में हर किसी को ध्यान में यह भी रखना चाहिए कि एक तरफ अन्ना हजारे और रामदेव की कार्रवाई है तो दूसरी तरफ माओवाद संचालित सशस्त्र संघर्ष का फैलाव है, आतंकवाद का खतरा तो अपनी जगह है ही। एक बात साफ होने पर भी साफ कर देने की जरूरत है कि अन्ना हजारे, माओवाद संचालित सशस्त्र संघर्ष या आतंकवाद को एक ही नहीं बताया जा रहा है। ये न सिर्फ भिन्न हैं बल्कि कई बार परस्पर प्रतिकूल भी हैं फिर भी इनके अंतस्संबंध पर गौर करने से आभासित होने लगता है कि इनमें सकारात्मक प्रतिकूलता किंतु नकारात्मक अनुकूलता का संबंध है। इनकी एक साथ चर्चा इसलिए जरूरी है कि ये सभी भारत के एक ही लोकतांत्रिक वातावरण में घटित हो रहे हैं और लोकतांत्रिक संस्थाओं पर इनका अच्छा-बुरा असर पड़ सकता है और पड़ भी रहा है। इसलिए ऐसी बहस के केंद्र में लोकतंत्र के चेहरा और चरित्र को अपेक्षित प्रमुखता से रखा जाना चाहिए। अतः पहले लोकतंत्र और फिर भ्रष्टाचार के चरित्र और चेहरा पर विचार करना चाहिए।

# सभ्यता

की प्राथमिक पाठशालाओं में भारत का अपना स्थान है। भारत की सामुदायिक व्यवस्था में लोकतंत्र की मूल चेतना हमेशा सक्रिय रही है। यह जरूर है कि राजनीतिक व्यवस्था में लोकतंत्र की चेतना का वैसा ही समावेश नहीं रहा है। कुछ लोग यह मानकर चलते हैं कि भारत में लोकतंत्र बाहरी प्रेरणा का परिणाम है। यह पूरा सच नहीं है। आधुनिक लोकतंत्र का जन्म पूँजीवाद की अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए हुआ है। यही पूँजीवादी लोकतंत्र आज हमारे पास उपलब्ध है। कहना न होगा कि यह लोकतंत्र पूँजीवाद के तमाम अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। इन्हीं अंतर्विरोधों के कारण कभी-कभार इसके स्वरूप के प्रति लोक में रोष उभर कर सतह पर आ जाता है। इस अर्थ में यह लोकतंत्र अपर्याप्त लगने लगता है। यह सच है कि वर्तमान लोकतंत्र अपर्याप्त है लेकिन अपरिहार्य भी है, कम-से-कम अभी तो अपरिहार्य ही है। अपर्याप्त का अपरिहार्य होना पूँजीवाद के मर्म से निकले आधुनिक लोकतंत्र की न सिर्फ विडंबना, बल्कि पूँजीवाद के मर्म से निकले आधुनिक लोकतंत्र का प्राणाधार भी है। विडंबना का प्राणाधार बन जाना पूँजीवाद के मर्म से निकले आधुनिक राजनीतिक लोकतंत्र का ऐसा दुष्चक्र है जिसके चलते सामाजिक लोकतंत्र का स्वाभाविक शुभ-चक्र सक्रिय नहीं हो पाता है। इसलिए, लोकतंत्र का ढाँचा ही खड़ा हो पाया

**फुल्ल कोलख्यान: लोकतंत्र का चेहरा, चरित्र और सिविल सोसाइटी: पृ. 2, कुल पृ. 5**

है इसका सर्वोत्तम सामान्य मनुष्य को अभी हासिल नहीं हो पाया है। 1967 में रघुवीर सहाय की कविताओं का संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' नाम से आया, इसमें दर्ज है कि 'लोकतंत्र - मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।' भारत जैसे देश में राजनीतिक लोकतंत्र की जड़ें तो बहुत गहरी हैं और इसके फल बहुत ऊँचे लगते हैं, आमजन की पहुँच के बाहर। राजनीतिक-आर्थिक आंदोलन या फिर आंदोलन की संभावनाओं के दबाव के कारण ही इसका थोड़ा-सा लाभ आमजन को मिल पाता है। यह लाभ भी सत्ताधारी वर्ग के अंतःकरण में निहित आमजन के हित की आकांक्षा के कारण नहीं बल्कि पूँजीवादी लोकतंत्र के ढाँचे को बचाये रखने के कौशल के कारण ही मिल पाता है। भारत में सामुदायिक लोकतंत्र का अवशेष आज भी अपने घिसे-पिटे और कदाचित्त विकृत रूप में जिंदा है। खाप या फिर जाति आधारित पंचायतों में इसकी झलक मिल जाती है। असल में औद्योगीकरण के दौर में आबादी की बढ़ती गत्यात्मकता के कारण बने आधुनिक वातावरण की माँग बढ़ी कि आदमी को अपने-अपने समुदाय की सीमा के बाहर निकलना जरूरी हो गया और इसी के आधार पर समाज का संघटन प्रारंभ हुआ। दरअसल समाज अंतर-सामुदायिक निर्मिति है। समुदाय की सीमाओं से बाहर निकालने के लिए ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा गया। राजनीतिक लोकतंत्र को अपर्याप्त किंतु अपरिहार्य माननेवाले लोग इसकी अपर्याप्तता को कम करने के लिए दो तरह की माँग लेकर सामने आते हैं – एक माँग का आशय सामुदायिक लोकतंत्र की तरफ इशारा करता है तो दूसरी माँग का आशय सामाजिक लोकतंत्र की जरूरत बताता है। सामुदायिक लोकतंत्र की तरफदारी पूर्व आधुनिक और उत्तर-आधुनिक दोनों ही तरफ से हो रही है। सामुदायिक लोकतंत्र सभ्यता को पीछे ले जानेवाला प्रतीत होता है। राजनीतिक लोकतंत्र की अपर्याप्तता को कम करने के लिए सामाजिक लोकतंत्र की मूल आकांक्षा सभ्यता को आगे की ओर ले जानेवाली प्रतीत होती है। समुदाय और समाज के बीच की रस्साकशी कोई आसान बात नहीं है। समुदाय में अव्याप्ति का दोष तो है लेकिन मूर्तता के साथ ही अपने सदस्यों पर अपेक्षाकृत पकड़ अधिक मजबूत है जबकि समाज में अतिव्याप्ति दोष के साथ अमूर्तता भी है और अपने सदस्यों पर पकड़ भी अपेक्षाकृत अधिक कमजोर है। सामुदायिक लोकतंत्र एक सांस्कृतिक निर्मिति है जिसके भीतर पहचान का आग्रह और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का तर्क तत्पर रहता है और सामाजिक लोकतंत्र राजनीतिक निर्मिति है जो राष्ट्र से अधिक समाज को महत्त्व देता है और आगे चल कर समाजवाद के राजपथ की तलाश करने लगता है। जबकि पूँजीवाद के मर्म से निकला राजनीतिक लोकतंत्र समाज से अधिक राष्ट्र को महत्त्व देता है और अंततः राष्ट्रवाद की पैरवी करता है, इतना ही नहीं पूँजी तथा मुनाफा के हित में जरूरत पड़ने पर अंधराष्ट्रवाद और कुत्सित राष्ट्रवाद तक को समर्थित करने से परहेज नहीं करता है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के इस दौर में राष्ट्रवाद के किसी भी संस्करण की पैरवी करना पूँजीवाद के मर्म से निकले राजनीतिक लोकतंत्र के लिए बहुत निरापद नहीं है। ऐसे में, पूँजीवाद के मर्म से निकले राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक लोकतंत्र की माँग का मुकाबला करने के लिए सिर्फ राष्ट्रवाद का सहारा

न लेकर एक ओर पहचान का संकट खड़ा करता है तो दूसरी ओर सामुदायिक लोकतंत्र की माँग को समर्थन देने लगता है। महात्मा गाँधी के संदर्भ यहाँ महत्वपूर्ण ढंग से उभर कर सामने आता है और महात्मा गाँधी के छोटे-छोटे संस्करणों की ऐतिहासिक भूमिका के लिए जगह बनने लगती है। नवंबर 1949 में संविधान सभा में भाषण देते हुए डॉ. आंबेदकर ने सामाजिक लोकतंत्र की ओर इशारा करते हुए कहा था कि 'हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र के रूप में ढालना है। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है जीवन की वह राह जो स्वाधीनता, समानता एवं बंधुत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मान्यता दे।' सामाजिक लोकतंत्र की एक परिकल्पना कम्युनिस्टों के पास है और एक परिकल्पना डॉ. राममनोहर लोहिया के पास भी है। 'सिविल सोसाइटी' की कार्यशैली में सामुदायिक और सामाजिक लोकतंत्र दोनों को एक साथ मिलाकर चलने की आकांक्षा सक्रिय है। जो लक्षण दिख रहे हैं उससे तो यही लगता है कि अंततः और स्वभावतः 'सिविल सोसाइटी' उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दबाव में सामुदायिक लोकतंत्र के पक्ष में ही जा खड़ा होगा। इसके दक्षिणपंथी रुझान को यहाँ समझा जा सकता है। प्रत्याहार सन्निपात (withdrawal syndrome) से ग्रस्त राज्य सामाजिक लोकतंत्र की माँग को समाजवाद के राजपथ पर चले जाने से रोकने के लिए 'सिविल सोसाइटी' को ही महत्व देगा। इससे राजनीतिक लोकतंत्र के भीतर नवब्राह्मण-तंत्र (मेरिटोक्रेसी) का संस्थापन सहजता से हो जायेगा। समानांतर सत्ता-समूह के रूप में 'सिविल सोसाइटी' वर्तमान राजनीतिक लोकतंत्र में नये रुझान पैदा कर देगी। यह तो भविष्य ही बतायेगा कि इसका लोकतंत्र पर कैसा असर पड़ेगा।

**मनुष्य** के आचरण की व्यापकता और बारंबारता नये मूल्य-बोध और उनका समुच्चय बनाता है। कहना न होगा कि भ्रष्टाचार की व्यापकता और बारंबारता सामाजिक जीवन के लिए हानिकर मूल्य-बोध के समुच्चय की सामाजिक स्वीकृति का पथ प्रशस्त कर रही है। भ्रष्टाचार को वर्तमान कानून के दायरे से बाहर की घटना के रूप में देखा जाता है। यह ध्यान में नहीं रह पाता है कि वर्तमान कानून का दायरा भ्रष्टाचार के लिए कितनी बड़ी जगह अपने अंदर रखता है। वर्तमान लोकतंत्र पूँजीवाद के मर्म से विकसित हुआ है। पूँजीवाद की मूल प्रवृत्ति विषमता को बढ़ावा देने की होती है और लोकतंत्र की मूल प्रवृत्ति समता की आकांक्षा रखती है। पूँजीवाद में विकास का अर्थ आर्थिक वृद्धि से सीमित होता है जबकि लोकतंत्र में विकास का अर्थ जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि से परिभाषित होता है। पूँजीवाद के लिए लोकतंत्र आर्थिक वृद्धि को सुचारु रूप से सुनिश्चित करने का माध्यम होता है जबकि समाजवाद के लिए लोकतंत्र जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि को सुनिश्चित करने का आश्रय होता है। देखा जाए तो भ्रष्टाचार पूँजीवाद और लोकतंत्र के अंतर्विरोधों के बीच से उत्पन्न होता है। भ्रष्टाचार पूँजीवाद तथा पूँजीपतियों को पुष्ट और लोकतंत्र तथा लोक को नष्ट करता है। बात सीधी है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ की जानेवाली किसी भी कार्रवाई का सीधा संघर्ष

**फुल्ल कोलख्यान: लोकतंत्र का चेहरा, चरित्र और सिविल सोसाइटी: पृ. 4, कुल पृ. 5**

पूँजीवाद से होना ही है। इस अर्थ में भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष लोक और लोकतंत्र के पक्ष को मजबूत करनेवाला होता है। इस संदर्भ में समाजवाद की पुरानी अवधारणा में हो रहे बदलाव की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। पूँजीवाद और लोकतंत्र के अंतर्विरोधों के बीच सामंजस्य इस समय की कठिन चुनौती है। इस चुनौती का सामना 'सिविल सोसाइटी' अपने ढंग से कर रही है। इसलिए इस समय 'सिविल सोसाइटी' की गतिविधियों को सावधानीपूर्वक सकारात्मक ढंग से ही लिया जाना चाहिए।

# जन

लोकपाल की माँग तो एक उदाहरण है। हो सकता है प्रधान मंत्री को इसके दायरे में रखने की बात सरकार मान भी ले, फिर भी यह सवाल तो बचा ही रह जायेगा कि खुद जन लोकपाल किसके दायरे में आयेंगे। देखना दिलचस्प होगा कि सामुदायिक

लोकतंत्र और सामाजिक लोकतंत्र के खींचतान में 'सिविल सोसाइटी' का रुख अंततः क्या होता है। यह भी कि दबाव समूह के रूप में 'सिविल सोसाइटी' किन मुद्दों पर अपना किस तरह का दबाव बनाती है। फिलहाल तमाम तरह की आशंकाओं के बीच 'सिविल सोसाइटी' की कार्रवाइयों से उठनेवाली तरंग के असर में पूँजीवाद के मर्म से निकले राजनीतिक लोकतंत्र के दुष्चक्र से बाहर निकलने, शुभ-चक्र के सक्रिय होने और लोकतंत्र के चेहरा और चरित्र में अर्थात् 'प्राइवेट फेसेज' और 'पब्लिक एक्टिविटीज' में जन-हितकारी सामंजस्य की उम्मीद की जानी चाहिए।

**इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।**

**सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान**